आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
२४७५

श्री वीतराग की आज्ञा

हे मुनि! आत्मा कल्याणस्वरूप है, उसमें तू अपने मन को युक्त कर, उसे छोड़कर अन्यत्र मत जा। आत्मा की पर्याय में जितने शुभाशुभभाव होते हैं, वे सब उपद्रव हैं। स्वभाव तो त्रिकाल अबन्ध ही है, उसमें कभी बन्धन नहीं है। आत्मा तो आनन्दकन्द कल्याणस्वरूप है, इससे उसमें एकाग्रता छोड़कर कहीं मत जा। हे तपोधन! आत्मा में जितने दया, दान, भक्ति, पूजा या हिंसा, चोरी, झूठ इत्यादि के भाव हों, उन्हें तू दु:ख मान। जो प्राणी ज्ञाननन्द चैतन्य में लीन नहीं होते, वे महान् राजा हों अथवा देव हों, किन्तु दु:खी हैं। जो विषयों में सुख मानते हैं, वे तो अग्नि के झूले पर झूल रहे हैं, उन्हें आत्मशांति नहीं है। क्या दु:ख का लक्षण बाह्य में रोना-चिल्लाना है? दु:ख का लक्षण तो अपने को भूलकर पर में भटकना है। महान देवों और राजाओं को भी आत्मभान के बिना प्रत्यक्ष दु:खी जान।

एक अंक
चार आना

४७

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

मोक्षार्थियों को किस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये ?

[समयसार कलश १८५ पर श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

(शार्दूलविक्रीड़ित)

सिद्धातोऽयमुदार चित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवाम्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥

(श्री समयसार कलश १८५)

अर्थ—जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्वल) है, ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि —"मैं तो शुद्धचैतन्यमय एक परमज्योति ही निरन्तर हूँ; और यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।"

जिन भव्य जीवों को संसार दु:खदायक भासित हुआ है, और उससे छूटकर ज्ञानरूप में प्रवेश करने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है–ऐसे मोक्षार्थियों को भी आचार्यदेव आदेश देते हैं कि जिनके ज्ञान का अभिप्राय उदार है, ऐसे हे मोक्षार्थी जीवों! तुम एक इसी सिद्धान्त का सेवन करो कि मैं तो निरन्तर एक शुद्धचैतन्यमय परम ज्योति ही हूँ, इसके अतिरिक्त समस्त भाव मैं नहीं हूँ, वे सभी भाव मुझसे भिन्न हैं। दयादि के पुण्यभाव अथवा हिंसादि के पापभाव मैं नहीं हूँ, जानने में जो क्रम होता है, वह भी मैं नहीं हूँ; मैं तो मात्र अभेद ज्ञाता हूँ, एकाकार परम ज्ञानज्योति हूँ।' ऐसे स्वभाव के सेवन से मुक्ति होती है, अन्य किसी भाव के सेवन से मुक्ति नहीं होती।

आत्मा का मोक्ष प्रगट करने के लिये किस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये, वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आचार्यदेव ने किसी शुभभाव का सेवन करने को नहीं कहा है, व्यवहार का सेवन करते-करते मोक्ष होता है–ऐसा नहीं कहा; किन्तु यह कहा है कि 'मैं एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ'–इसी सिद्धान्त का सेवन करने को कहा है। 'मैं स्वत: निरन्तर चैतन्यमय हूँ, मैं किसी अन्य के पास समझनेवाला नहीं हूँ और अन्य को समझानेवाला भी नहीं हूँ, मुझे किसी दूसरे के साथ सम्बन्ध ही नहीं है'–ऐसा जिनके सम्यग्ज्ञान का उदार अभिप्राय है, वे मोक्षार्थी ऐसे सिद्धान्त का सेवन करो। 'मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, व्यवहार करते-करते धर्म होता है, सत् निमित्त के आश्रय से लाभ होता है'–ऐसी मान्यता जिस जीव की है, उसका अभिप्राय उदार नहीं किन्तु

कृपण है; उदार-स्वाधीन ज्ञान में उसका चरित्र नहीं है; वह जीव विकार का-व्यवहार का-पराश्रय का सेवन करता है, इससे उसे बंधन होता है। सर्वप्रकार से जो ज्ञानमय भाव है, वही मैं हूँ, त्रिकाल में मात्र ज्ञानभाव के अतिरिक्त अन्य कोई भाव मेरे स्वरूप में नहीं है, मैं पुण्य-पाप का कर्ता नहीं हूँ, मुझमें पुण्य-पाप हैं ही नहीं, व्यवहार से धर्म नहीं होता, मुझे व्यवहार का आश्रय नहीं है, किसी भी परनिमित्त के साथ मुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है,—ऐसी जिसकी मान्यता है, उस जीव का अभिप्राय उदार है, स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव में उसका आचरण है, इससे उसका चरित्र उदार है। यही सिद्धान्त मोक्षार्थियों को सेवन करनेयोग्य है।

हे जीव! "मैं पर का कुछ करूँ, जो विकार है, सो मैं हूँ"—ऐसी बुद्धि करके तूने अपने ज्ञान को विकार में संकुचित कर दिया है। अब, जो चैतन्यभाव है, सो ही मैं हूँ, दूसरे सभी भाव मुझसे भिन्न हैं-इसप्रकार स्वभाव को ग्रहण करके तू अपने ज्ञान को उदार बना। समस्त परभावों को ज्ञान में से अलग कर दे। मेरे चैतन्यस्वरूप में शरीर का साथ नहीं है, पुण्य-पापरूप विकार भावों का प्रवेश नहीं है, तथा मैं अपूर्ण ज्ञानभाव जितना ही नहीं हूँ—ऐसा उदार चरित्र करके ज्ञान में से उन सबको निकाल दे। जो ज्ञान, विकार में एकता करके रुका था, वह ज्ञान संकुचित था; स्वभाव और परभाव को भिन्न जानकर जो ज्ञान अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, वह ज्ञान विकार से छूटकर मुक्त हुआ, उस ज्ञान में विकार का ग्रहण नहीं है, इससे वह उदार है; जिन्हें ऐसा ज्ञान है, वे मोक्षार्थी हैं। बाह्य में कोई जीव त्यागी या साधु हो जाये, किन्तु अन्तर में ऐसा माने कि व्यवहार करते-करते मेरी मुक्ति हो जायेगी, तो वह मोक्षार्थी नहीं है; उसके त्याग और व्रतादि मोक्ष के अर्थ से नहीं हैं, किन्तु संसार के अर्थ से ही हैं। उसके ज्ञान में से विकार की ग्राह्यता दूर नहीं हुई है, इससे उसका ज्ञान उदार नहीं है। जो सहर्ष करोड़ों रुपये का दान करते हैं, वे उदार हैं-ऐसा यहाँ पर नहीं कहा है। रुपया तो जड़ है; 'उसका कर्ता मैं हूँ'—ऐसा माननेवाला महा मिथ्यात्वी है। और दान के शुभभाव करके जो उसकी रुचि करे, वह भी उदार नहीं है, उसका ज्ञान कृपण है। उसे अपने चैतन्यधन का उपयोग करना नहीं आता, इसलिये वह विकारी भावों को ग्रहण करता है।

भगवान श्री अमृतचन्द्राचार्य देव कहते हैं कि हे मोक्षार्थियों! तुम ऐसा समझो कि मैं सदा एकरूप चैतन्यमय हूँ, मैंने कभी व्यवहार किया ही नहीं, कभी रागरूप भी मैं नहीं हुआ, पूर्व के अनन्तकाल में मैं सदा चैतन्यमय ही था, कभी विकारी हुआ ही नहीं। मैं त्रिकाल चैतन्यमय शुद्ध ज्ञायकज्योति हूँ, मैं संसारभाव को नष्ट करनेवाला हूँ, किन्तु उसे स्थायी रखनेवाला नहीं हूँ।

जैसे अग्नि के पास कीटाणु जल जाते हैं, वैसे ही चैतन्यज्योति के निकट विकार नष्ट हो जाता है। मैं चैतन्यमय परमज्योति हूँ, राग करनेवाला या राग को दूर करनेवाला मैं नहीं हूँ। मेरे स्वभाव में यदि राग हो, तभी तो उसे टालूँ? स्वभाव में कभी राग है ही नहीं, इसलिये मैं राग को दूर करनेवाला भी नहीं हूँ। चैतन्यमय स्वभाव निरन्तर शुद्ध है, इसप्रकार अपने स्वभाव का सेवन करने से विकार स्वतः ही नष्ट हो जाता है और मोक्षदशा प्रगट होती है। इसलिये मोक्षार्थियों को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-तीनों का समावेश हो जाता है।

श्री आचार्यदेव ने यहाँ पर मोक्षार्थियों को ही सम्बोधन किया है, स्वच्छन्दी जीवों की बात नहीं ली है। जो व्यवहार से भी भ्रष्ट होकर अपना स्वच्छन्द प्रवर्तन करते हैं, वे तो महापापी अनन्त-संसारी हैं। व्यवहार के सेवन से धर्म नहीं होता, तो भी मुमुक्षु जीवों को पहली भूमिका में व्यवहार होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति अत्यंत भक्ति, बहुमान, विनय, अत्यन्त नम्रता, अर्पणता मुमुक्षु के होती ही है, किन्तु जगत के पास से आदर-मान लेने का अभिप्राय नहीं होता। जिसके पास से एक अक्षर भी मिले, उसकी विनय नहीं भूलता; तब फिर जिन सद्गुरु ने समस्त आत्मा को समझाया है, उनके प्रति मुमुक्षु को कितनी अर्पणता और विनय होगी! जो सद्गुरु की विनय का लोप करे वह महा स्वच्छन्दी है। शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके उससे जो सांसारिक प्रयोजन की पुष्टि करता है, वह महापापी है, वह अनन्त-संसार में परिभ्रमण करनेवाला है। सत्शास्त्रों के ज्ञान का प्रयोजन तो वीतरागभाव करना था, उसके बदले में उससे रागभाव का और स्वच्छन्दता का जो पोषण करता है, वह जीव आत्मा का महा विराधक है। ऐसे जीवों की तो बात ही नहीं है; वे तो ऐसी मोक्ष की बात को श्रवण करनेयोग्य भी नहीं हैं। आत्मार्थी जीव तो देव-गुरु के पास एकदम निरभिमान हो जाता है, जैसे मैं निर्जीव हूँ-निष्प्राण हूँ-ऐसी निरभिमानता होती है। अनन्तकाल से मैं अपने स्वभाव से अनभिज्ञ हूँ, मेरे आत्मा के अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं अत्यन्त पामर हूँ, मैं कुछ भी नहीं जानता, मुझे स्वभाव का लाभ कैसे हो? इसप्रकार अत्यंत पात्र होकर, स्वच्छन्दता को सर्वथा त्यागकर निरंतर स्मरण करते-करते सद्गुरु के चरणों में अर्पण हो गया है-ऐसे मोक्षार्थी को आचार्यदेव यह बात कहते हैं और ऐसा मोक्षार्थी अवश्य ही इस बात को समझकर स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार को लेकर निश्चय प्राप्त होता है-यह मान्यता मिथ्या है, परन्तु 'देव-गुरु-शास्त्र की

विनय के बिना मैं अपने आप निश्चय प्राप्त कर लूँ'—ऐसा मानकर जो व्यवहार से ही भ्रष्ट होकर स्वच्छन्दता का सेवन करता है, वह तो महा अपात्र है। जब उच्च अध्यात्म की बात प्रचलित हुई है और अधिकांश आध्यात्मिक साहित्य प्रगट हो चुका है, तब उसे सुनकर या पढ़कर अनेक जीव अपने नाम से लोगों के पास बातें करने लगे हैं, और इसप्रकार अपने मान का पोषण कर रहे हैं। वे जीव मात्र स्वच्छन्दी हैं, और महा मोहनीयकर्म का बन्धन करके अनन्तभव में भटकनेवाले हैं।

सद्गुरु ज्ञानी के चरणों में विनय और अर्पणता के बिना अपने आप एक अक्षर भी अधिक परिणमित होनेवाला नहीं है। स्वच्छन्दता से समयसार का या अन्य करोड़ों शास्त्रों का स्वाध्याय करे तो भी कुछ समझ में नहीं आयेगा। स्वच्छन्दता के कारण सभी विपरीत परिणमित होगा। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

''निज कल्पनाथी कोटी शास्त्रो मात्र मननो आमलो''

अपनी स्वच्छन्दता से करोड़ों शास्त्र पढ़ ले तो वह कहीं ज्ञान नहीं है। ऐसा शास्त्रज्ञान तो अभव्य जीव के भी होता है। यहाँ 'मोक्षार्थियों' कहकर आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि सच्चा मुमुक्षु कैसा होता है। जिसके अन्तरंग में संसार का त्रास जागृत हुआ है, स्वच्छन्द को छोड़ दिया है, सत्समागम से अर्पणता प्रगट हुई है, धर्म के नाम से संसार के किसी भी प्रयोजन की पुष्टि नहीं करता, मात्र मोक्ष का ही इच्छुक है,-ऐसे जीव से आचार्यदेव कहते हैं कि हे मोक्षार्थी जीव! तू अपने आत्मा के चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करके उसका ही सेवन कर। तू बहुत श्रवण करने में लगा रहना, अथवा अधिक शास्त्र स्वाध्याय करना-ऐसा नहीं कहा है, किन्तु यह कहा है कि अपने शुद्धात्मा का सेवन करना। ''मैं निरन्तर शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति हूँ''—ऐसे सिद्धान्त का सेवन करना, सो मोक्ष का उपाय है। सिद्धान्त के सेवन का अर्थ क्या? शब्दों की बात नहीं है, किन्तु इस सिद्धान्त के द्वारा जो वस्तुस्वभाव बताया है, उस वस्तुस्वभाव की ही रुचि-ज्ञान-अनुभव और लीनता करना चाहिये।

मोक्षार्थी जीव के चित्त का चरित्र उदार है, उच्च है, उज्वल है। यहाँ मुनिदशा के चारित्र की बात नहीं है किन्तु सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के चारित्र की बात है। घर में रहनेवाले गृहस्थ के भी ऐसी दशा हो सकती है। श्रद्धा और ज्ञान के आचरण को सुधारने की बात है। चौथा गुणस्थान कैसे प्रगटे-उसकी बात है। ''मैं सदा ज्ञातास्वभाव हूँ, पुण्य-पाप के कोई भी भाव मैं नहीं हूँ'' ऐसे सिद्धान्त का सेवन करो, अर्थात् ऐसी श्रद्धा करो, ऐसा ज्ञान करो और ऐसी स्थिरता प्रगट करो-यही मोक्षार्थी जीव की क्रिया है।

मैं त्रैकालिक शुद्ध हूँ–ऐसी दृष्टि का सेवन करो; अर्थात् जिससे पुण्यभाव हों, उसका भी सेवन मत करो। जिस पात्र को पुण्यभावों में भी रुचि नहीं है, वह पाप-प्रवृत्ति में स्वच्छन्दता से प्रवर्तन करे–ऐसा कैसे हो सकता है ? जो पुण्यभाव का भी निषेध करता है, क्या वह पाप का आदर करेगा ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि कोई जीव 'मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, मुझे बंधन नहीं है'—ऐसा मात्र बातूनी हो जाये और स्वच्छन्दता से चाहे जैसा प्रवर्तन करे, धर्म के बहाने स्त्रियों से परिचय करे, अभिमान करे, पर्याय का विवेक भूलकर मात्र शुष्कता का सेवन करे–वह तो महान विराधक है, ऐसे जीवों के शुद्ध आत्मा का सेवन नहीं हो सकता, वे तो स्वच्छन्दता का सेवन कर रहे हैं। जो विशेष योग्यता प्रगट करके आत्मा के लिये ही सत् समझने का प्रयत्न करते हैं–ऐसे आत्मार्थी-मोक्षार्थी जीव इसी सिद्धान्त का सेवन करो।

भगवान की भक्ति करते-करते चारित्र में सुधार होता है–ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानते हैं। भक्ति तो शुभराग है, क्या राग करने से चारित्र सुधरता होगा ? और कितने ही अज्ञान कहते हैं कि 'अपने को पहले चारित्र सुधारना चाहिये और त्याग करना चाहिये, सम्यग्दर्शन तो किसी भाग्यवान के ही होता है।' अरे भाई! सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र में सुधार कैसा ? और त्याग कैसा ? सम्यग्दर्शन हो और चारित्र सुधर जाये–यह मूढ़ जीव की बात है। यहाँ आचार्य सरल और सत्य उपाय बतलाते हैं कि जो मोक्षार्थी हों, वे सब जीव "मैं शुद्ध चैतन्यमय आत्मा हूँ, और अनेक प्रकार के जो विकारीभाव हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं"—ऐसे सिद्धान्त का सेवन करो। यह सिद्धान्त त्रैकालिक है। जो पुण्य के परिणाम होते हैं, उनका भी इनमें विरोध आया है, तब फिर स्वच्छन्दता से पाप सेवन करने का तो नाम ही कैसे होगा ? पाप परिणामों का सेवन करें और यह माने कि हमें दोष नहीं लगता, ऐसे स्वच्छन्दी जीव तो यह सूत्र सुनने के योग्य ही नहीं हैं। जिनके अन्तर में कोई छल-छन्द नहीं हैं, मात्र एक आत्मार्थ का ही काम है–ऐसे मोक्षार्थी जीवों के लिये यह बात है। जैसे आम की गुठली को बोकर उसका पोषण करने से आम मिलते हैं; वैसे ही 'मैं निरन्तर शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ'—ऐसे सच्चे अभिप्राय के द्वारा आत्मा का सेवन करने से मोक्षफल मिलता है। जिनके शुद्धात्मा की श्रद्धा का ही ठिकाना नहीं है और विकाररूप ही आत्मा का सेवन करते हैं, उन जीवों के विकार की वृद्धि होते-होते अत्यन्त हीन दशा प्राप्त होती है, अर्थात् वे निगोद में जाते हैं।

यहाँ परजीवों की भावना नहीं है, किन्तु आत्मार्थी जीव अपने स्वभाव-सन्मुख होकर अपनी ही भावना करते हैं। कैसी भावना करते हैं ? 'मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, सदा ऐसे का ऐसा ही

हूँ'—इसप्रकार त्रैकालिक स्वभाव की भावना करते हैं। मैं सदा चैतन्यमय हूँ–यह अस्ति का पक्ष बतलाया है। अब नास्ति पक्ष क्या है, सो बताते हैं, अर्थात् कैसे भावों का निषेध करके स्वभाव की ओर उन्मुख होते हैं–वह बतलाते हैं। ''यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।'' अपनी पर्याय में जो भाव होते हैं, उनका निषेध करते हैं। पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करते हैं। चैतन्यता मेरा लक्षण है, और जो विविधप्रकार के रागादि भाव होते हैं, वे चैतन्य से भिन्न लक्षणवाले हैं। मैं चैतन्य एक प्रकार का हूँ और पर्याय के विकारभाव अनेक प्रकार के हैं; मैं त्रिकाल शाश्वत हूँ, और यह पर्याय के भाव प्रतिक्षण नवीन प्रगट होते रहते हैं, इसलिये वह मैं नहीं हूँ। ज्ञानी समझते हैं कि पर्याय में विकार है, किन्तु शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव की भावना के बल से उसका निषेध करते हैं। मेरी पर्याय में भी विकार नहीं होता–ऐसा मानकर यदि स्वच्छन्दता का सेवन करे तो वह महान् पापी है।

जो आत्मार्थी जीव है, उसके कषाय की मन्दता होती है और मात्र मोक्ष की अभिलाषा है। ऐसे जीव के स्वच्छन्द तो होता ही नहीं; किन्तु देव–गुरु के प्रति भक्ति, बहुमान इत्यादि जो शुभभाव हों, वह भी मैं नहीं हूँ; वे भाव तो क्षणिक हैं, मेरे चैतन्यस्वभाव से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई है। मेरा शुद्ध चैतन्यस्वरूप निरंतर एक समान ही है, और पर्याय में जो अनेकप्रकार के शुभाशुभभाव दिखाई देते हैं, वे नये–नये प्रगट होते हैं, वे भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं;–ऐसा अभिप्राय करके अपने ज्ञान को शुद्धस्वभाव में परिणमित करो। त्रैकालिक शुद्धस्वभाव का आश्रय करना चाहिये, स्वभाव का आश्रय करने में व्यवहार भावों का निषेध हो जाता है–ऐसा मोक्षार्थी जीव का स्वरूप है।

मेरा चैतन्यस्वरूप एक प्रकार का है और यह दया, भक्ति आदि भाव अनेक प्रकार के हैं–विविध हैं; चैतन्य का एकत्व आत्मा का स्वरूप है, और अनेकत्व विकार का स्वरूप है—इसप्रकार दोनों को भिन्न जानकर अपने चैतन्यस्वभाव में परिणमित होकर, उसी का सेवन करो और अन्य समस्त भावों को चैतन्य से भिन्न जानकर छोड़ दो–ऐसा मोक्षार्थी जीवों को उपदेश है। एक शुद्ध चैतन्यमय भाव के अतिरिक्त अन्य समस्त भाव नवीन प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ। जो ''चैतन्यस्वभाव है, सो मैं हूँ''–ऐसा अस्तिधर्म और ''विकारभाव मैं नहीं हूँ''—ऐसा नास्तिधर्म–इसप्रकार अस्ति–नास्तिधर्म द्वारा अपने स्वभाव को सिद्ध करना ही अनेकान्तधर्म है।

आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वरूप बतलाया और पर्याय में जो विकार है, उसका ज्ञान कराया है। त्रैकालिक शुद्धस्वभाव और वर्तमान पर्याय का विकार, इन दोनों का ज्ञान करके स्वभाव का

स्वीकार और विकार का निषेध करना कि-मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, और जो विकारी भाव हैं, वह मैं नहीं हूँ-चैतन्यस्वरूप ही स्वद्रव्य है, और समस्त विकारी भाव मेरे लिये परद्रव्य हैं, वे कोई भाव मुझे सुख का कारण नहीं हैं, मुझे उन भावों का आश्रय नहीं है। जैसे शरीरादि जड़ वस्तुओं का आत्मा में अत्यन्त अभाव है; वैसे ही चैतन्यस्वभावी आत्मा में विकार का अत्यन्त अभाव है-ऐसा मोक्षार्थी जीव अनुभवन करता है। जो विकार का स्वद्रव्यरूप से अनुभव करता है, वह जीव, विकार से कभी मुक्त नहीं होता। स्वभाव में विकार नहीं है; जब अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तब विकार का अनुभव नहीं होता, इसलिये मोक्षार्थी जीवों को ऐसा अनुभव करना चाहिये कि मैं शुद्ध एक चैतन्य ही हूँ, मुझमें विकार नहीं है। विकारभाव हैं, इसलिये मैं स्वभावोन्मुख होता हूँ-ऐसा नहीं, किन्तु विकार का अभाव करके स्वभावोन्मुख होता हूँ। जब मैं स्वभावोन्मुख होता हूँ, तब विकार का अभाव (निषेध) हो जाता है, इससे वह मुझ से पृथक् द्रव्य है। छोटे से छोटा धर्मात्मा जीव भी ऐसे ही अभिप्राय का सेवन करता है। ऐसे अभिप्राय से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, और उसके पश्चात् भी ऐसे ही स्वभाव के सेवन से जब चैतन्य में विशेष लीनता होने पर कम से कम राग रह जाये, तब मुनिदशा प्रगट होती है, वहाँ बाह्य और अन्तर में निर्ग्रंथता होती है।

पण्डित नाम रखाकर कोई जीव तो ऐसा मानते हैं कि "प्रथम मुनि हो जायें, फिर सम्यग्दर्शन होना होगा तो हो जायेगा"-वह बिल्कुल अज्ञान है। जैसे चूल्हे पर तीन हण्डे रखे हों और कोई कहे कि सबसे नीचे का हण्डा तो गर्म नहीं हुआ और ऊपर रखे हुए हण्डे की वस्तु ठीक अच्छी तरह से पक गई है तो उसकी बात बिल्कुल मिथ्या है। उसीप्रकार मोक्षमार्ग में ऐसा क्रम है कि प्रथम सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् सम्यक्चारित्र होता है। उसके बदले अज्ञानी जीव कहता है कि प्रथम चारित्र करो; किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र हो ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन तो हुआ नहीं किन्तु चारित्र और मुनिदशा हो गई-ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पर्याय में राग होने पर भी धर्म होता है। राग स्वत: धर्म नहीं है, किन्तु राग के समय ही रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान को स्थिर रखना, सो धर्म है। मैं पर से और विकार से पृथक् हूँ-ऐसे सिद्धान्त का सेवन करे तो विकार से मुक्ति हो, किन्तु मैं पर के सम्बन्धवाला और विकारी हूँ—ऐसे सिद्धान्त का सेवन करे तो विकार का और पर का सम्बन्ध नहीं छूटता एवं मुक्ति नहीं होती। हे आत्मार्थी जीव! यदि तुझे कार्य समयसार-परमात्मा होना हो तो तू अपने कारणसमयसार-परमात्मा का सेवन कर। पश्चात् उसमें लीनता होने से राग-द्वेष का अभाव होकर परमात्मदशा प्रगट होती है।

यहाँ तो, जिसे पर्याय में रागादि होते हैं, उसे समझाते हैं। रागादि विकार हैं, उसे स्वीकार करता है, और उस विकार से मुक्त होने की जिसे तीव्र आकांक्षा है, और स्वच्छन्दता को छोड़कर गुरु के चरणों में अर्पित हो गया है,—ऐसे शिष्य को मोक्ष के लिये किस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये–वह समझाया जाता है। मोक्षार्थी जीव के कैसा नियम होता है? त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ–ऐसा मानना ही सच्चा नियम है। किन्तु आत्मा को विकारी या रागयुक्त मानना नियम नहीं है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध परम चैतन्यमय है–वह त्रिकाल नियम है। इसी नियम के सेवन से धर्म होता है। आठ वर्ष की बालिका भी इस नियम के सेवन से धर्म प्राप्त करती है, और सौ वर्ष का द्रव्यलिंगी साधु भी इस नियम के सेवन बिना धर्म प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिये मोक्षार्थियों को इसी नियम का सेवन करना चाहिये।

इस कलश में आचार्यदेव ने निश्चय स्वभाव का आदर और व्यवहार का निषेध बतलाया है। साधक जीव के परमार्थ का आदर और व्यवहार का निषेध, सो मुक्ति का उपाय है। राग मन्द होता है–वह पुण्य है, उससे धर्म नहीं है। मैं चैतन्यस्वभाव हूँ, मुझमें राग नहीं है–ऐसी स्वभावदृष्टि, सो धर्म है।

यहाँ ऐसे मोक्षार्थी जीव की बात है कि जिसे एकमात्र आत्मार्थ का ही साधन करना है, जिसके अन्तर में अन्य कोई रोग नहीं है, जगत के आदर–मान की अवश्यकता नहीं है, लोकों की अनुकूलता नहीं चाहिये, आचार्य–उपाध्याय की पदवी नहीं चाहिये, लोगों में पण्डित कहलाना नहीं है, संसारमात्र में कोई प्रयोजन नहीं है, अपने ज्ञातृत्व का अभिमान नहीं है; सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति अर्पणता हो गई है, ज्ञानियों के निकट से एक अक्षर सुनते ही उल्लास और आनन्द हो जाता है–ऐसे मोक्षार्थी जीव मोक्षमार्ग को समझाते हैं।

अहो! आचार्यदेवों ने अन्तरंग में अनुभव करके उसका रहस्य शास्त्रों में अवतरित किया है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने चौथी गाथा में कहा है कि काम, भोग, बन्धन की बात जीवों ने सुनी है, किन्तु शुद्ध आत्मा की बात पूर्व में कभी नहीं सुनी। यहाँ सुनने को कहा है, अर्थात् श्रीगुरु के पास से शुद्धात्मा का श्रवण करते समय जो विनय, बहुमान होना चाहिये और स्वच्छन्द का त्याग होना चाहिये, वह उसमें आ जाता है। जिसे शुद्धात्मा के प्रति प्रेम हो, उस जीव को शुद्धात्मा को समझानेवाले ज्ञानियों के प्रति विनय और बहुमान होता ही है। गुरु के पास से शुद्धात्मा का श्रवण करते हुए कितनी विनय होती है! मैं समझकर जगत के जीवों को समझा दूँ—ऐसी जिसकी बुद्धि

नहीं है, किन्तु मुझे अपने लिये ही समझकर आत्मार्थ करना है–ऐसा अपना ही अभिप्राय है, अत्यन्त गम्भीरता है, मुझे सत् के प्रति अर्पणता के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं है–इसप्रकार जो स्वच्छन्द को छोड़कर एकदम नम्र हो गया है और जिसे मोक्ष से ही प्रयोजन है–ऐसे जीवों को आचार्य आदेश करते हैं कि हे मोक्षार्थियों! तुम निरन्तर ऐसे सिद्धान्त का सेवन करो कि मैं शुद्धज्ञानमय परमज्योति हूँ। सामनेवाले जीव में वैसा करने की पात्रता है, इससे आचार्यदेव ने आदेश–वचन कहा है। मोक्षार्थी जीवों के ज्ञान का अभिप्राय उदार होता है। 'शुद्ध आत्मा' सर्वज्ञदेव के कहे हुए अनन्त शास्त्रों का सार है। हे मोक्षार्थियों! अनन्त शास्त्रों के सारभूत इस सिद्धान्त का सेवन करो कि—'मैं चिद्रूप आत्मा हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है।' जिस जीव ने इस सिद्धांत को समझ लिया है, उसने सर्व शास्त्रों के सार को जान लिया है। शुद्धात्मस्वरूप की ओर का अभिप्राय हुआ–वही मुक्तिमार्ग की ओर प्रयाण है, वह अप्रतिहत भाव बदलता नहीं है। पर का कुछ भी करने की तो बात ही नहीं है, क्योंकि वह कोई जीव कर ही नहीं सकता, और पर्याय में जो राग हो, वह करने की बात भी नहीं है। साधकदशा में वह भले ही हो किन्तु उससे धर्म नहीं है। धर्मी जीव उसे अपना स्वरूप नहीं मानते। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार से आत्मा के स्वरूप को माने, उसे धर्म नहीं है।

इस कलश में आचार्यदेव ने मोक्ष का मंत्र दिया है; कैसे अभिप्राय से धर्म होता है, वह संक्षेप में ही आचार्यदेव ने बतलाया है। जैसे जिनमन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया जाता है, वैसे ही श्री कुन्दकुन्द भगवान की रचना पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह कलश चढ़ाया है। अस्ति–नास्ति पूर्वक सुन्दर कथन किया है। पर्याय में व्यवहार का अस्तित्व तो बतलाया है, किन्तु चैतन्य के शुद्ध ज्ञायकस्वभाव में उसका अस्वीकार किया है।

प्रश्न—इस धर्म में त्याग करने की बात आई या नहीं ?

उत्तर—एक शुद्ध चैत्न्यस्वभाव सो मैं, और चैत्न्य से विलक्षण–ऐसे समस्त परभाव, सो मैं नहीं हूँ, वे सभी मुझसे भिन्न हैं–ऐसे अभिप्राय में समस्त परभावों का त्याग आ गया और शुद्धात्मा का ग्रहण हुआ। यह चौथे गुणस्थान की–सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की–धर्मात्मा होने की बात है। जहाँ तक ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव को न समझे, वहाँ तक जीव के सभी साधन मिथ्या हैं।

मैं आत्मतत्त्व से बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ, देव–गुरु–शास्त्र का और धर्मात्मा का दासानुदास हूँ, उनकी चरणरज का भी मैं दास हूँ, ऐसी अर्पणता के बिना तत्त्व का परिणमन नहीं होता। किसी के

पास से सुनकर या शास्त्र पढ़कर बातें करने से अन्तर में कुछ भी परिणमित नहीं होता। ज्ञानियों के पास से सुनी हुई बात को अपने नाम से जगत को सुनाने लगे और इसप्रकार मान का पोषण करे तो वह महान स्वच्छन्दी है, अनन्त-संसारी है। यह तो अध्यात्मा का गरिष्ठ भोजन है, अज्ञानी इसे नहीं पचा सकेगा। जिसके अन्तर में आत्मा की रुचि है, आत्मा के हित के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, समझकर दूसरों के पास से बड़प्पन नहीं लेना है, किन्तु अपने आत्मा के लिये ही समझता है-ऐसे मोक्षार्थी जीव की बात है। जितनी यहाँ कही गई है, उतनी बराबर पात्रता प्रगट करने के पश्चात् ही शुद्धात्मा का अन्तरपरिणमन होता है। सत् सुनकर उसके द्वारा जो विषय-कषाय की पुष्टि करता है, वह तो महापापी, अनन्त-संसारी है, सत् को श्रवण करने का भी वह पात्र नहीं है, उसके तो व्यवहार की भी योग्यता नहीं है, वह तो सीधा दुर्गति में जाता है।

जिसने तीव्र पाप छोड़ दिया है, स्वच्छन्द को हटा दिया है, पुण्य भावों को भी अलग करना है, विषयों में जिसे उत्साह नहीं है, सद्गुरु के लक्ष्य से उनकी आज्ञानुसार वर्तन करता है और सब कुछ छोड़कर मात्र शुद्ध चैतन्यभाव को ही रखना है-वही आत्मार्थी है, और वह जीव शुद्धात्मा का सेवन करके मोक्ष प्राप्त करता है। जो आत्मा में से स्वच्छन्दता को नहीं छोड़ता, वह जीव-'मैं शुद्धात्मा हूँ'—ऐसे सम्यक् अभिप्राय का सेवन नहीं कर सकता। इसलिये जिन्होंने स्वच्छन्द का अधिकांश त्याग कर दिया है-ऐसे मोक्षार्थी जीवों को शुद्धात्मा की पहिचान करके उसी का सेवन करना चाहिये। शुद्धात्मा को पहिचाने बिना जीव अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु हुआ और मेरु पर्वत से ऊँचा ढेर लग जाये इतने पिछी-कमण्डल धारण किये, किन्तु शुद्धात्मा का सेवन नहीं किया, इससे आत्मा का किंचित् कल्याण नहीं हुआ। एकमात्र शुद्धात्मा के सेवन के अतिरिक्त अन्य सभी भावों का सेवन जीव ने अनन्तकाल से किया है। व्यवहार के जितने प्रकार हैं, उनका सेवन किया है, किन्तु निश्चयस्वभाव एकरूप चैतन्यमय परिपूर्ण है-उसका कभी सेवन नहीं किया। शुद्धात्मा के अतिरिक्त तीर्थंकरगोत्र भी सेवन करनेयोग्य नहीं है। तीर्थंकरगोत्र तो जड़कर्म है, वह तो परद्रव्य है ही, किन्तु जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र का बन्ध होता है, वह भाव भी मेरे आत्मा से पृथक् द्रव्य है; मैं तो शुद्ध चिन्मात्र हूँ—ऐसे सिद्धान्त का सेवन करना, सो मुक्ति का उपाय है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—

हे मोक्षार्थी जीवों! तुम इस सिद्धान्त का सेवन करो कि 'मैं तो निरन्तर शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ; यह जो भिन्न लक्षणवाले विविधप्रकार के भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।' ●●●

श्री परमात्म-प्रकाश-प्रवचन (अंक ४५-४६ से आगे)

[परमात्मप्रकाश शास्त्र पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यानों का सार]

शास्त्र में जहाँ चरणानुयोग की बात में परद्रव्य छोड़ने की बात आये, वहाँ समझना चाहिये कि यह कथन राग को छोड़ने के लिये है। प्रवचनसार में शुद्धता और शुभराग की मित्रता कही है, किन्तु वास्तव में वहाँ उनके 'मित्रता' नहीं है, राग तो शुद्धता का शत्रु है, किन्तु चरणानुयोग से वैसा कहा है, यह व्यवहारनय का कथन है। जब सम्यग्दृष्टि के स्थिरता नहीं होती, तब वह शुभराग से युक्त होता है और अशुभ से बचता है, इसलिये उस शुभ की वीतरागता के साथ निमित्तरूप से मित्रता कही है; उसका भावार्थ तो यह है कि वह वास्तव में वीतरागता का शत्रु है। किन्तु वहाँ चरणानुयोग का कथन है, इसलिये ऐसा ही कथन होता है। जैसा नय हो, उसे समझकर उसका अर्थ करे, तभी बराबर समझ में आता है।

(३) मतार्थ :—दूसरे विरुद्ध मत किसप्रकार से मिथ्या हैं, उसका वर्णन करना, सो मतार्थ है। चरणानुयोग में कहे हुए व्यवहार व्रतादि करने से धर्म हो-ऐसी मान्यतावाले अन्यमत हैं, जैनमत नहीं है। यहाँ बौद्ध, नैयायिक इत्यादि में जो एकान्त मान्यता है, वह बतलाकर उसकी अयथार्थता बतलाई, सो मतार्थ है। इसीप्रकार जिनमत में रहनेवाले जीवों में भी जिसप्रकार की विपरीत मान्यता चल रही हो, वह बतलाकर उसमें क्या भूल है-यह बतलाना, सो मतार्थ है।

(४) आगमार्थः—जो सिद्धान्त में कहा हो, उसके साथ अर्थ को मिलाना, सो आगमार्थ है। सिद्धान्त में प्रसिद्ध हो, वह आगमार्थ है।

(५) भावार्थः—अर्थात् इस कथन का अन्तिम अभिप्राय क्या है? सार क्या है? परमात्मस्वरूप वीतरागी आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई राग-विकल्पादि उपादेय नहीं हैं; यह सब तो मात्र ज्ञान करनेयोग्य हैं; एक परम शुद्धस्वभाव ही आदरणीय है। भावनमस्काररूप पर्याय भी परमार्थ से आदरणीय नहीं है, इसप्रकार परम शुद्धात्मस्वभाव को ही उपादेयरूप से अंगीकार करना, सो भावार्थ है। ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारों के अनुसार प्रत्येक शास्त्र के कथन का अर्थ समझना चाहिये।

[२२] निर्मल पर्याय उपादेय है या नहीं ?

प्रश्न—निर्मल पर्याय आदरणीय क्यों नहीं है? हमारे द्रव्य तो है, किन्तु मोक्षपर्याय की आवश्यकता है, इसलिये वह द्रव्य आदरणीय क्यों नहीं है?

उत्तर—यहाँ द्रव्यदृष्टि को बतलाना है। द्रव्यदृष्टि करने से शुद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है। शुद्धपर्याय का आधार क्या है? वह किसमें से प्रगट होती है? यह जानना चाहिये। वह किसमें से प्रगट होती है? यह जानना चाहिये। द्रव्यस्वभाव को जानकर उसमें एकाग्रता करना, सो ही निर्मल पर्याय प्रगट होने का उपाय है। पर्याय के लक्ष्य से निर्मलता प्रगट नहीं होती, इसलिये पर्याय को परमार्थ से उपादेय नहीं कहा जाता। निर्मलपर्याय को उपादेय कहना, सो पर्यायार्थिकनय से है।-१

[२३] भविष्य के अनन्त सिद्धों को नमस्कार।

पहली गाथा में सामान्यरूप से सिद्ध भगवान को नमस्कार किया, अब दूसरी गाथा में भविष्य के सिद्धों को नमस्कार करते हैं:—

(गाथा २)

ते वंदउं सिरि सिद्धगण होसहिं जे वि अणंत।
सिवमय णिरूवम णाणमय परम समाहि भजंत॥२॥

अर्थ—भविष्य में जो अनन्त सिद्ध होंगे, उस सिद्ध समूह को मैं नमस्कार करता हूँ-वे सिद्ध भगवन्त कैसे होंगे? परम कल्याणमय अनुपम और ज्ञानमय होंगे। क्या करने से वे सिद्ध होंगे? रागादि विकल्परहित परम समाधि (निर्विकल्प ध्यान) का सेवन करने से सिद्ध होंगे।

भविष्य में सिद्ध होनेवाले अनन्त जीव इससमय निगोद में भी पड़े हों, तथापि यहाँ ग्रन्थकार मुनि कहते हैं कि भविष्य में जो सिद्ध होंगे, उन्हें नमस्कार हो। वास्तव में अपने को भविष्य में सिद्धदशा होना है, उसे ज्ञान में समीप लाते हैं-अपनी भविष्य की पर्याय को समीप लाते हैं। द्रव्यदृष्टि से भविष्य और वर्तमान को एक करते हैं। भविष्य में जो सिद्धदशा होगी, उसी का मैं अनुमोदन करता हूँ, किन्तु किसी विकल्प का अनुमोदन नहीं करता।

[२४] सिद्धदशा का उपाय।

भविष्य में कैसे सिद्ध होंगे? केवलज्ञानादि मोक्ष-लक्ष्मी सहित और सम्यग्दर्शनादि आठ गुण युक्त होंगे। सम्यक्त्वादि वास्तव में गुण नहीं, किन्तु संपूर्ण निर्मल पर्याय हैं। भविष्य में जिनको सिद्ध होना है, वे भी व्यवहार के अवलम्बन से या राग से सिद्ध नहीं होंगे, किन्तु निज शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रागादि को तोड़कर सिद्ध होंगे। श्रेणिक राजा आदि जीव भविष्य में सिद्ध होंगे-वे भी इसी रीति से सिद्ध होंगे। क्या करते-करते सिद्ध होंगे? वीतराग सर्वज्ञदेव के प्ररूपित मार्ग द्वारा प्रथम दुर्लभ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, निज शुद्धात्मा की भावना से सिद्धदशा प्राप्त

करेंगे। अपना स्वभाव त्रैकालिक ज्ञान-दर्शनमय है, वह स्वभाव रत्नत्रय से पूर्ण है, ऐसे अपने शुद्धात्मा की भावना से वीतरागी सहजानन्द प्रगट करके एवं संसार के स्वर्ग-नरकादि दु:खों का नाश करके, परम समाधिरूप जहाज पर आरूढ़ होने से सिद्धदशा प्राप्त होती है। ऐसे उपाय से भविष्य में अनन्त जीवों को सिद्ध भगवान होना है।

अनन्तकाल के पश्चात् निगोद में से निकलकर जो सिद्ध होंगे, उन्हें भी वर्तमान में नमस्कार किया है। अनन्त पुद्गलपरावर्तन के पश्चात् जो सिद्ध होंगे, उन्हें वर्तमान में नमस्कार किया है। इसमें स्वत: को द्रव्यदृष्टि का बल है। इसप्रकार दूसरी गाथा में भावी सिद्धों को नमस्कार किया। इसका भावार्थ यह है कि सिद्धसमान परम शुद्ध आत्मस्वरूप ही आदरणीय है।

त्रिकाल के सिद्धों का अपने ज्ञान की एक पर्याय में समावेश कर लूं-ऐसा मेरा स्वभाव है; उस स्वभाव की एकाग्रता द्वारा सिद्धों को नमस्कार किया है। अहो! यह सिद्धपद ही सम्पूर्ण पद है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पद मुझे आदरणीय नहीं है। -२-

[२५] वर्तमान में जो सिद्ध हैं, उन्हें नमस्कार।

अब वर्तमान में बिराजमान श्री सीमंधरादि भगवन्तों को नमस्कार करते हैं:—

(गाथा ३)

ते हउं वंदउं सिद्धगण अच्छहिं जे वि हवंत।
परमसमाहि महग्गियए कम्मिधणइं हुणंत॥३॥

अर्थ—मैं उस सिद्ध समूह को नमस्कार करता हूँ; जो वर्तमान में (अरहन्त पद पर) विराज रहे हैं, और परम समाधिरूपी महाअग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर रहे हैं।

(अपूर्ण)

संचय

आत्मस्वभाव की महिमा और जैनदर्शन का प्रयोजन

द्रव्य-गुण-पर्याय और उनके प्रत्येक अंश की स्वतंत्रता, अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त, स्व से पूर्णता, पर से नास्ति-ऐसा तेरा स्वभाव ही है। जो कहा जाता है, वह तेरा स्वभाव ही कहा जाता है। पर की महिमा नहीं है, वास्तव में सर्वज्ञ की वाणी की महिमा नहीं है, किन्तु आत्मस्वभाव की ही महिमा है। सर्वज्ञ की दिव्यवाणी में भी जो आत्मस्वभाव है, उसी का वर्णन किया है, कुछ नवीन नहीं कहा।

हे जीव! जैनदर्शन महाभाग्य से प्राप्त हुआ है, अब तू अपनी अन्तर रिद्धि-सिद्धि का भंडार तो देख! सर्वज्ञ की दिव्यवाणी के अतिरिक्त अन्य कोई जिसे सम्पूर्ण (पूरा) कहने के लिये समर्थ नहीं है और सर्वज्ञ के शासन में सम्यग्ज्ञानियों के अतिरिक्त कोई भी जिसे यथार्थरूप से समझने में समर्थ नहीं है-ऐसा तेरा अन्तरंग स्वभाव है। किन्तु स्वत: अपने स्वभाव की महिमा को कभी नहीं जाना है, इससे इधर-उधर के पदार्थों की महिमा करके अटक जाता है। अहो! आत्मा की महिमा अपरम्पार है और उसे जाननेवाले ज्ञान का सामर्थ्य ही अपार है। सर्वज्ञ की वाणी में और जैनशासान में जितना वर्णन है, वह सब आत्मस्वभाव समझने के लिये ही है। इस वर्णन को पर का नहीं समझना चाहिये, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव, सामर्थ्य का ही यह वर्णन है-ऐसा जानना चाहिये। छह द्रव्य अथवा नवतत्त्वों का वर्णन आये, वहाँ तुझे ऐसा समझना चाहिये कि इन सबको जानने की मेरे ज्ञानस्वभाव की जो शक्ति है, उसी का यह वर्णन है। इसप्रकार स्वभाव की महिमा लाकर, श्रद्धा करके, उसमें ही स्थिर होना, सो जैनदर्शन का प्रयोजन है। अनन्त शास्त्रों और दिव्यध्वनियों का सार यही है कि अपने चैतन्यस्वरूपी आनन्दमय आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर हो।

जैनदर्शन के शास्त्रों का भाव समझने के लिये अवश्य लक्ष्य में रखने योग्य नियम।

(१) जैनदर्शन अनेकान्त स्वरूप है; वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त स्वरूप में बतलाता है। प्रत्येक तत्त्व अपने स्वरूप में अस्तिरूप और पर के स्वरूप से नास्तिरूप है। यह अनेकान्त ही वस्तु का स्वरूप समझने का उपाय है, इसी से जैनदर्शन का महत्व है।

(२) प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है, स्वत: अपने से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। जिसमें

जिसकी नास्ति होती है, वह उसमें कुछ भी नहीं कर सकता; इससे कोई भी तत्त्व अन्य किसी तत्त्व का कुछ भी करने में कभी समर्थ नहीं है।

(३) प्रत्येक द्रव्य एक दूसरे से भिन्न होने के कारण उनके गुण और पर्यायें भी त्रिकाल भिन्न-भिन्न ही हैं और प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय स्वतः अपने ही द्रव्य के आधार से हैं, किसी भी द्रव्य के गुण-पर्याय कभी भी किसी अन्य द्रव्य के आधार से नहीं हैं।

(४) जीव स्वतः अन्य अनन्त परपदार्थों से भिन्न है, इससे कोई भी परपदार्थ जीव को लाभ-हानि नहीं कर सकते, जीव का पुरुषार्थ स्वतंत्र है। जगत के समस्त द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप-इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप हैं, इसी अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता और पूर्णता है। ऐसे भेद कराके जैनदर्शन आत्मस्वभाव के साथ एकता कराता है, और पर के साथ के सम्बन्ध को छुड़वाता है।

(५) जैनदर्शन के शास्त्रों का कोई भी कथन हो, उसका मूलप्रयोजन वीतरागभाव ही है। इस प्रयोजन को अखण्ड रखकर ही जिनशास्त्रों का अर्थ समझना चाहिये।

उपरोक्तानुसार पाँच नियमों को बराबर लक्ष्य में रखकर सत्शास्त्रों का अर्थ समझा जाये, तभी उनका यथार्थ रहस्य समझ में आता है। कोई भी शास्त्र हो, उसमें चाहे निश्चय का कथन हो, अथवा व्यवहार का; किन्तु उसका सच्चा भावार्थ समझने के लिये उपरोक्त नियमों को लक्ष्य में रखकर ही उसका अर्थ करना चाहिये।

यदि अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त के मर्म को समझकर अर्थ करे तो शास्त्ररूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो जाये, शास्त्र के चाहे जिस कथन में उसे अकुलाहट न हो। और यदि अनेकान्त के यथार्थ मर्म को न जाने तथा एकद्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ करे इत्यादि प्रकार के पक्ष रखकर शास्त्र-स्वाध्याय करे तो उस शास्त्र के अनेक विवक्षाओं के कथन को नहीं सुलझा सकेगा, उस कथन को लेकर वहीं अकुला जायेगा-अर्थात् उसका ज्ञान मिथ्या रहेगा, तथा शास्त्र में कहे हुए ज्ञानियों के आशय को वह नहीं समझ सकेगा।

आत्मा को क्या खपेगा और क्या नहीं खपेगा-इसकी खबर किसे होती है ?

अनेक व्यवहार के आग्रही जीव स्वतः आत्मस्वभाव की पहिचान के बिना ही कहते हैं कि मुझे जैन के हाथ का ही खपेगा, अजैन के हाथ का नहीं। किन्तु भाई! अभी तो तू आत्मा की पहिचान के बिना स्वतः ही अजैन है। प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा तू सच्चा जैन तो हो; पश्चात् तुझे

खबर पड़ेगी कि तेरे आत्मा को क्या खपेगा और क्या नहीं ? ज्ञानी का अभिप्राय तो ऐसा है कि मुझे अपना वीतरागस्वभाव और वीतरागता ही खपेगी, राग का अंशमात्र भी नहीं। ऐसे भानपूर्वक उनके अपनी भूमिका के अनुसार राग का और उसके निमित्तों का त्याग होता है। अज्ञानी को रागरहित स्वभाव का भान नहीं है और राग को आदरणीय मानता है, उसकी मिथ्या मान्यता में उसे अनन्तगुना राग खपता है और उसके निमित्तरूप अनंत पदार्थ खपते हैं-इसका तो वह त्याग करता नहीं और बाह्य में यह वस्तु नहीं खपती, यह खपती है-ऐसा करने में ही रुक जाता है। परिणाम में तो मन्दकषाय का ठिकाना भी कदाचित् ही होता है; ऐसा मार्ग जैनदर्शन का नहीं है। अभी यह भी नहीं समझा कि मैं कौन हूँ और पर कौन है तो फिर मुझे क्या खपेगा और क्या नहीं खपेगा-इसकी खबर अज्ञानी को क्या होगी ?

मात्र उपयोग को बदलना है।

धर्म में क्या करने को कहा ? प्रथम, आत्मा जड़ का तो कुछ करता नहीं है और जड़ में कहीं आत्मा का धर्म नहीं होता। अमुक पुण्य करो, दान करो, अथवा भक्ति करो-ऐसा भी नहीं कहा है, क्योंकि वह सब तो विकार है-धर्म नहीं। किन्तु अपने चैतन्य के उपयोग को परोन्मुख करके वहाँ लीन हो रहा है, उस उपयोग को स्वभावोन्मुख करके उसी में लीन करना है। 'पुण्य-पाप मेरे'—ऐसी मान्यता करके अपने उपयोग को उसमें रोक दिया है, वही अधर्म है। उस उपयोग को स्वभावोन्मुख करके 'जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, सो ही मैं हूँ'—ऐसी स्वभाव के ओर की श्रद्धा ही प्रथम करना है और वही प्रथम धर्म है तथा उसके पश्चात् भी बाह्य में कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वैसे ही व्रत-तपादि का शुभराग आये, वह भी धर्मात्मा का कर्तव्य नहीं है, किन्तु जिस शुद्धस्वभाव की श्रद्धा की है, उसी में उपयोग को लगाना ही सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान का मार्ग है। धर्म के प्रारम्भ से अन्त तक एक ही क्रिया है कि 'शुद्धात्मस्वभाव में चैतन्य उपयोग को लगाना' इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया धर्म में नहीं आती। जितनी स्वभाव में लीनता है, उतना धर्म है, और लीनता में जितनी कचास है, उतना दोष है।

जड़-चेतन का भेदज्ञान और उसका फल वीतरागता।

बिल्ली, चूहे को पकड़ती है-ऐसा कहा जाता है, अब वहाँ पर यदि वास्तविक भेदज्ञान से देखा जाये तो बिल्ली का आत्मा और उसका शरीर भिन्न हैं; उसमें बिल्ली के आत्मा ने तो चूहे का ज्ञान किया है और साथ ही उसे मारकर खाने का अत्यंत तीव्र गृद्धिभाव किया तथा मुँह द्वारा चूहे को

पकड़ने की क्रिया जड़ परमाणुओं के स्वतंत्र कारण से हुई है,–इसप्रकार सर्वत्र जड़–चेतन की स्वतंत्रता है। जड़–चेतन के ऐसे भेदज्ञान की समझ का फल वीतरागता है। यथार्थ समझे तो पर से अत्यंत उदास हो जाये; किन्तु कोई ऐसा कहे कि 'खाना–पीना इत्यादि समस्त क्रियाएँ शरीर की हैं' और अंतरंग से उनके प्रति किंचित्मात्र उदासीनता न हो, तीव्र गृद्धिभाव का ही पोषण करता रहे तो उसे स्व–पर का भेदज्ञान ही यथार्थतया नहीं हुआ, वह मात्र स्वच्छन्दता के पोषण के लिये बातें बनाता है कि–जड़ की क्रिया तो जड़ से ही होती है, परन्तु यदि वास्तव में तूने अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना हो तो तुझे परद्रव्यों को भोगने की रुचि–भाव ही कैसे हो ? एक ओर जड़ से भिन्नत्व की बातें करना और फिर एकाकाररूप से जड़ की रुचि में तल्लीन होकर प्रवर्तन करना, यह तो असली स्वच्छन्दता है, किन्तु भेदज्ञान नहीं है।

शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप को जानकर उसी की शरण ले।

यह शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिंड है, वे परमाणु आत्मा से भिन्न हैं, स्वतंत्ररूप से परिणमित होते हैं। क्षणमात्र में अन्यरूप परिणमित हो जायेंगे। आत्मा ज्ञातास्वरूप है–चेतनायुक्त है; चैतन्यभगवान आत्मा को जड़–शरीर का आधार नहीं है, किन्तु अपने चैतन्यत्व का ही आधार है। चैतन्य को राग का आधार भी नहीं है। हे जीव! तुझे मात्र अपना चैतन्य ही शरण है–शरीर अथवा राग कोई तुझे शरणभूत नहीं है, इसलिये शरीर से और राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को जानकर उसी की शरण ले।

स्वप्न में भी जिसके साथ सम्बन्ध नहीं है–ऐसे इस जड़ निर्जीव के साथ सम्बन्ध मानकर अनादि से दुःखी हो गया है। हे जीव! अब इस मान्यता को छोड़ दे। मैं तो चैतन्य हूँ, इस शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, पूर्व में भी इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था और न भविष्य में ही इससे मेरा कोई सम्बन्ध होना है। चैतन्य और जड़ त्रिकाल भिन्न ही है। पर के आश्रय से ही मैं दुःखी हुआ हूँ, इसलिये अब स्वाधीन चैतन्य को पहिचानकर मैं अपना हित साध लूँ। समस्त जगत का भले ही चाहे जो हो, उसके साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है; मैं जगत का साक्षीभूत, जगत से भिन्न, अपने में अचल, एकरूप, शाश्वत्, ज्ञाता हूँ। वास्तव में जगत का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं अपना ही ज्ञाता हूँ।

शरीर और चेतना का भिन्नत्व।

आत्मा की चेतना अखण्ड है, असंख्यप्रदेशी आत्मा के कभी भी भाग नहीं हेते; शरीर के दो

टुकड़े हो जायें किन्तु वहाँ भी चेतना के दो भाग नहीं होते; क्योंकि ज्ञान तो ऐसे का ऐसा ही रहता है। शरीर की एक अंगुली कट जाय तो वहाँ पर कहीं ज्ञान में से थोड़ा भाग नहीं कट जाता, क्योंकि चेतना तो अखंड एक अरूपी है और शरीर तो संयोगी जड़, रूपी पदार्थ है; दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। शरीर के लाख टुकड़े हो जायें, तथापि चेतना तो अखण्ड ही है। चेतना और शरीर कभी भी एक हुए ही नहीं। शरीर कटने से जीवों को दु:ख होता है, उनको जो शरीर कटा वह दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु शरीर के साथ की एकत्वबुद्धि ही अज्ञानी को दु:ख का कारण है। और यदि साधक जीवों को अल्प दु:ख हो तो उनके अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग है, उसके कारण से दु:ख है। यदि शरीर का कटना दु:ख का कारण हो तो उस समय आत्मा का स्वतंत्र परिणाम कहाँ रहा ? शरीर कट रहा हो, तथापि वीतरागी संतों को उस समय दु:ख नहीं होता, किन्तु स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये शरीर और आत्मा निरंतर भिन्न ही हैं।

परद्रव्य में कुछ भी करने की इच्छा की निरर्थकता और उसे छोड़ने की प्रेरणा।

हे जीव! तू अपने स्वभाव को भूलकर भी परद्रव्य में कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। अपने भाव में अनुकूल सामग्री प्राप्त करने की इच्छा भले ही कर, किन्तु तेरे इच्छा करने से परद्रव्य का संयोग आ जाये, ऐसा कुछ भी नहीं है। इसलिये तेरी परद्रव्यों सम्बन्धी इच्छा तो प्रतिक्षण व्यर्थ चली जाती है। जिससमय जैसा संयोग-वियोग होना है-उस वस्तु का उसप्रकार से उसीसमय वैसा ही संयोग-वियोग होगा। वस्तु के स्वतंत्र परिणमन को कोई भी नहीं रोक सकता। तू चाहे जैसी माथापच्ची कर और संकल्प-विकल्प कर, उससे कहीं अनुकूल सामग्री नहीं आ जायेगी, इसलिये हे भाई! तू परद्रव्यों में कुछ भी फेरफार करने की अपनी व्यर्थ मान्यता को छोड़, क्योंकि तेरी इस मान्यता से तुझे ही दु:ख होता है। परद्रव्यों का चाहे जैसा हो, उनके कर्तृत्व की मान्यता छोड़कर तू अपने स्वभाव की दृष्टि से सबका निर्विकल्परूप से ज्ञाता हो जा, यही तुझे शांति का कारण है। परवस्तु के परिणमन में 'यह ऐसा क्यों ?' ऐसा विकल्प करना भी तेरा कर्तव्य नहीं है। यह समस्त द्रव्य अपने स्वरूप में परिणमित होते हैं। कोई द्रव्य अपने स्वरूप से भिन्न परिणमित नहीं होता, तू भी अपने ज्ञानस्वरूप में ही परिणमित हो। अनादिकाल से ज्ञानस्वरूप को भूलकर पर के लक्ष्य से विकाररूप परिणमन कर रहा है-वही दु:ख का कारण है।

आत्मा की भावना अथवा आत्मा का ध्यान कब हो सकते हैं ?

स्वभाव का परिणमन, स्वभाव की भावना के आधीन है; किन्तु स्वभाव की भावना कब

कर सकता है ? प्रथम जैसा स्वभाव है, वैसा जाने तो उसकी महिमापूर्वक भावना करे; किन्तु जाने बिना किसकी भावना करे ? जैसे कोई कहे कि भैंसे का ध्यान करो अथवा अमेरिका देशा का चिंतवन करो। किन्तु जिसने कभी भैंसा न देखा हो और अमेरिका देश का कुछ ज्ञान ही न किया हो, वह जीव उसका ध्यान अथवा चिंतवन किसप्रकार करेगा ? वैसे ही जिसने सत्समागम द्वारा आत्मस्वभाव को जाना ही नहीं, वह आत्मा की भावना या आत्मा का ध्यान कहाँ से करेगा ? प्रथम जिज्ञासु होकर सत्समागम करके अपने पूर्णस्वभाव को जाने, तो पश्चात् पुरुषार्थ द्वारा पूर्णस्वभाव की भावना करके पर्याय में जो कार्य लाना चाहता है, वह ला सकता है। किन्तु जहाँ तक स्वभाव को और विकार को भिन्न-भिन्न स्वरूप में नहीं जाना हो, वहाँ तक स्वभाव के बदले विकार में ही तन्मय होकर उसकी भावना करता है; किन्तु जब प्रज्ञाछैनी के द्वारा (सम्यग्ज्ञान द्वारा अर्थात् भेदज्ञान द्वारा) स्वभाव को और विकार को भिन्न-भिन्न स्वरूप में जान ले, तब जीव स्वभाव की ही भावना करता है, विकार की कभी नहीं करता। और जैसी भावना, वैसा ही परिणमन-इस न्यायानुसार उस जीव के स्वभाव की भावना होने से प्रतिक्षण शुद्धता बढ़ती जाती है और विकार प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है।

आत्मा की ओर का प्रेम कब जागृत होता है ?

जीव ने अनादिकाल से यही ध्यान में नहीं लिया कि आत्मस्वभाव क्या है; इससे उसे जड़-शरीर और विकार का प्रेम है, किन्तु आत्मा का प्रेम नहीं है। यदि एकबार भी यथार्थ उल्लासपूर्वक आत्मस्वभाव के प्रति प्रेम जागृत हो तो अल्पकाल में ही मुक्तदशा हो जाये।

प्रश्न—आत्मा के प्रति प्रेम कब जागृत होता है ?

उत्तर—आत्मा की पहिचान करे, तभी उसकी ओर सच्चा प्रेम जागृत हो। वस्तुस्वरूप को जाने बिना उसकी महिमा नहीं आती और उसके प्रति प्रेम नहीं होता। जिसप्रकार लोकव्यवहार में कोई मनुष्य परदेश में प्रतिदिन सन्मुख मिलता हो। किन्तु जबतक स्वत: को इसकी पहिचान न हो कि वह कौन है, तबतक उसके प्रति प्रेम नहीं आता। किन्तु जब उसकी पहिचान हो और खबर पड़े कि वह तो मेरे ही गाँव का है तथा मेरा कुटुम्बी है; तो फिर उसकी ओर प्रेम जागृत हुए बिना नहीं रहता। पहले भी वही मनुष्य था और इसीसमय भी वही है, तथापि पहले अपने को उसकी पहिचान न होने से उसके प्रति प्रेम नहीं था और अब प्रेम हुआ है। उसीप्रकार यह ज्ञानस्वभाव आत्मा निरंतर आपके पास ही है, प्रतिक्षण जानने का कार्य करता है, किन्तु स्वत: अपने स्वभाव को

नहीं जानता इससे उसे अपने आत्मस्वभाव के प्रति उल्लास नहीं होता और प्रेम जागृत नहीं होता। आत्मा तो निरंतर अपने पास ही है। स्वत: आत्मा ही है, किन्तु स्वत: अपने आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान नहीं है और उसे अन्यरूप (विकाररूप अथवा जड़रूप) मान रहा है, इससे स्वभाव का सच्चा प्रेम जागृत नहीं होता। किन्तु यदि आत्मा की यथार्थ पहिचान करे तो उसे खबर हो कि अरे! यह आत्मा विकारी नहीं, जड़ नहीं, किन्तु उससे भिन्न चैतन्यस्वरूप है और यही मैं हूँ-यही मेरा स्वरूप है, ऐसा भान होने पर आत्मा के प्रति अपूर्व प्रेम जागृत होता है। पहले भी आत्मा का स्वभाव तो यही था और इससमय भी यही आत्मा है, किन्तु अपने स्वभाव की स्वत: को पहिचान नहीं थी-इसी से आत्मा के प्रति भक्ति प्रेम जागृत नहीं होता था। और अब यथार्थ पहिचान हुई, इससे उसके प्रति यथार्थ भक्ति और प्रेम जागृत हुआ है। इसलिये सच्ची पहिचान के बिना यथार्थ भक्ति अथवा प्रेम (महिमा, रुचि, आदर) नहीं हो सकता।

जिसे विकार का प्रेम है, उसके स्वभाव का अनादर है।

मैं चिदानन्द ज्ञातास्वरूप हूँ, यदि ऐसा नहीं जाना और स्वभाव को भूलकर विकार का प्रेम किया तो फिर वह जीव, तीर्थंकर भगवान की भक्ति के नाम से चाहे जैसे शुभभाव करे या लाखों रुपये दान में खर्च कर दे, तथापि उससे आत्मा को कुछ भी धर्म लाभ नहीं होगा, किन्तु उल्टा वह राग से आत्मा को लाभ मानता है; इसलिये तीव्र अंतरायकर्म का बन्ध करके, मूढ़ होकर चौरासी के अवतारों में उलझता फिरेगा। चाहे जैसे पुण्य-पाप करे और उससे आत्मा को किंचित् भी लाभ माने तो उस जीव को आत्मस्वभाव का प्रेम नहीं है, किन्तु विकार का प्रेम है। पुण्यभावों से धर्म तो नहीं होता, किन्तु उनसे सात-आठ प्रकार के कर्म बंधते हैं और आत्मा की शुद्धि का घात होता है। चाहे जैसे शुभाशुभ विकारभाव करे तो भी उनके फल में चौरासी का ही अवतार है और आत्मस्वभाव की पहिचान, सो चौरासी के अवतार का नाश करके सिद्धदशा की प्राप्ति का कारण है। स्वभाव में भव नहीं होते और विभाव में भव का अन्त नहीं होता। किसी भी प्रकार के बंधभावों से आत्मा के गुणों की वृद्धि नहीं है किन्तु हानि ही है। जहाँ विकार का सत्कार है, वहाँ निर्विकारस्वरूप का अनादर है।

ज्ञान, दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु मोह, दु:ख का कारण है।

दु:ख का कारण क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है, किन्तु इच्छा ही दु:ख का कारण है। पदार्थों को जानना दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु मोह से विषयग्रहण की जो इच्छा होती है, वही दु:ख का

मूल कारण है। यदि ज्ञान स्वत: दु:ख का कारण हो तो ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जायेगा, वैसे ही दु:ख भी बढ़ता जायेगा और ज्ञान शून्यता सुख का कारण सिद्ध होगी। वैसा होने से जड़ को पूर्ण सुख मानना पड़ेगा। किन्तु ज्ञान तो अपना स्वाभाविकभाव है, वह दु:ख का कारण नहीं है। किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ जितना मोह दिखलाई देता है, उतना दु:ख है।

प्रश्न—किसी का पुत्र परदेश में हो और वहाँ पर उसकी मृत्यु हो जाये, किन्तु जबतक उसके पिता को पुत्र की मृत्य सम्बन्धी ज्ञान नहीं होगा, वहाँ तक उसे उसके सम्बन्ध में दु:ख नहीं होगा और जब उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान होगा, तब उसीसमय दु:खी हो जायेगा; इसलिये ज्ञान ही दु:ख का कारण है ?

उत्तर—नहीं; वहाँ ज्ञान, दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु पुत्र के प्रति जो मोह है, वही दु:ख का कारण है। ज्ञान, दु:ख का कारण होता तो जिसे-जिसे उसके पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हो-उन सबको समान दु:ख होना चाहिये, लेकिन क्यों नहीं होता ? जिसे जितना मोह होता है, उसे उतना ही दु:ख होता है। जिससमय उस मनुष्य को पुत्र की मृत्यु का ज्ञान हुआ, उसीसमय उस मनुष्य ने अंतरंग भान द्वारा वैराग्य लाकर मोह न किया होता तो उसे ज्ञान होने पर भी दु:ख नहीं होता; क्योंकि दु:ख का कारण ज्ञान नहीं किन्तु मोह है। मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि ज्ञान किया, इसलिये दु:ख हुआ, अथवा पुत्र की मृत्य हो गई, इसलिये दु:ख हुआ-यह दोनों बातें मिथ्या हैं। जितना मोह करता है, उतना दु:ख होता है-यही एक सिद्धान्त है। संयोगी पदार्थों के प्रति मोह होने से जो दु:ख होता है, उस दु:ख को दूर करने का उपाय परवस्तु का संयोग जुटाना नहीं है, वैसे ही इच्छा या इन्द्रियों की पुष्टि भी उसका प्रयत्न नहीं है। वास्तविक उपाय यह है कि संयोगी पदार्थों की दृष्टि छोड़कर असंयोगी ज्ञानस्वरूप आत्मा की दृष्टि और एकाग्रता करे तो दु:ख दूर हो। संसार की किसी भी वस्तु में आत्मा का सुख नहीं है, किन्तु स्वत: अपने आत्मा की दृष्टि करे तो सुख प्रगट हो।

प्रश्न—कोई मनुष्य सो रहा हो, और उसके निकट ही सर्प बैठा हो। जब कोई उसे जगाये और कहे—अरे भाई! तेरे पास सर्प पड़ा है, उससमय उसे तुरन्त ही भय लगता है। जबतक उसे सर्प का ज्ञान नहीं हुआ था, तबतक भय नहीं था, इसलिये ज्ञान से ही भय हुआ; इससे ज्ञान को ही दु:ख का कारण मानना पड़ेगा ?

उत्तर—नहीं; ज्ञान दु:ख का कारण है ही नहीं। उस मनुष्य को सर्प का ज्ञान करने से भय नहीं हुआ; किन्तु शरीर के प्रति जो ममत्व है, उसके कारण ही भय हुआ है। सोते समय उसे

अल्पदु:ख था और सर्प का भान होने से अधिक दु:ख हो गया–ऐसा नहीं है। सोने के समय भी शरीर के प्रति जितने अंश में ममत्व है, उतने ही अंश में प्रतिकूलता का भय भी उसके अव्यक्तरूप से विद्यमान ही है। पहले अनुकूलता के राग की मुख्यता थी, अब प्रतिकूलता के द्वेष की मुख्यता है, किन्तु दोनों समय जितने अंश में ममत्व है, उतने ही अंश में दु:ख है। यदि सर्प का ज्ञान, दु:ख का कारण हो तो उसी सर्प को यदि कोई मुनि देखे; किन्तु उसे किंचित्मात्र भय क्यों नहीं होता? क्योंकि उसे शरीर के प्रति ममत्व नहीं है, इससे प्रतिकूलता का भय भी नहीं है। जिस मनुष्य को सर्प की उपस्थिति में भय होता है, उसे सर्प की अनुपस्थिति के समय भी अपने ममत्व के कारण दु:ख का वेदन तो था ही। जिसे जितने अंश में अनुकूलता का प्रेम होता है, उसे उतने ही अंश में प्रतिकूलता का भय अथवा द्वेष होता ही है।

ग्राहकों से निवेदन

आगामी अङ्क और प्रगट होने के पश्चात् चैत्र मास से आत्मधर्म का चौथा वर्ष पूर्ण हो रहा है, उसके साथ ही आपका वार्षिक चन्दा भी समाप्त हो जायेगा। यदि आगे भी आप प्रत्येक अंक यथासमय प्राप्त करना चाहते हैं तो पाँचवें वर्ष का चन्दा ३/– मनिआर्डर द्वारा भेज दें। क्योंकि यहाँ पर पोस्ट ऑफिस की उचित व्यवस्था न होने से कई ग्राहक महानुभावों को वी.पी. करने में अधिक समय लग जाता है, और उतने समय तक वे धर्मलाभ से वंचित रहते हैं, अत: शीघ्र ही वार्षिक चन्दा भेजें।

—प्रकाशक

वस्तुस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा का फल

[श्री समयसार मोक्षअधिकार के व्याख्यानों से]

प्रश्न—परजीवों का जन्म-मरण उनके कारण से होता है, 'मैं उनका कुछ नहीं कर सकता, मैं तो मात्र ज्ञाता हूँ'—ऐसी श्रद्धा रखेगा तो जीव के परिणाम निष्ठुर नहीं हो जायेंगे।

उत्तर—अरे भाई! वस्तुस्वभाव जैसा है, उसकी वैसी ही श्रद्धा करने का फल तो वीतरागता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक यदि दयादि के परिणामों को छोड़कर मात्र ज्ञाता रहेगा तो वीतराग होगा। फिर चाहे अज्ञानी भले ही उसे निष्ठुर कहें। संसार में भी यदि किसी का बीस वर्ष की आयु का पुत्र मर जाये तो कहीं उसका बाप साथ में नहीं मर जाता, फिर उसे क्यों निष्ठुर नहीं कहते? यह निष्ठुरता नहीं किन्तु उसप्रकार का विवेक है। जगत के जीव भी विकार के लक्ष्य से निष्ठुर (वृत्तिरहित) हो जाते हैं। घर में कोई बीस वर्ष की बहू-बेटी विधवा हो, और साठ वर्ष का वृद्धपुरुष विषयों में लीन रहता है, देखो तो! कितने निष्ठुर हैं उसके परिणाम! अज्ञानीजन कषाय के लक्ष्य से निष्ठुर-वृत्तिहीन होते हैं, जबकि ज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होकर विकारी वृत्तियों से रहित सिद्ध होते हैं, उन्हें वीतरागी कहा जाता है। जो जीव विकारी वृत्ति करते हैं, वे पर के लिये नहीं करते किन्तु स्वतः को उसप्रकार का कषाय होने से वह वृत्ति होती है। उस वृत्ति को जो करने योग्य माने-कर्तव्य माने वह मिथ्यादृष्टि है।

एकबार किसी सेठ के यहाँ लग्न-प्रसंग (विवाह) था। उससमय सेठ और सेठानी बड़े हर्ष के साथ भाँति-भांति के भोजन और शृंगारादि करते थे; किन्तु सेठ का छोटा भाई मर गया था, उसकी बालविधवा स्त्री अपने पति को याद कर-करके रोती थी। सेठ-सेठानी ने विचार किया कि "बहू अपने आनन्द को सहन नहीं कर सकती," इसलिये ठीक प्रसंग पर ही सेठ ने उसे उसके माँ-बाप के यहाँ भिजवा दिया और स्वतः आननद-उत्साह के साथ कार्य पूर्ण किया। देखो! स्वार्थी के निष्ठुर परिणाम! अपने को जो राग पसन्द आया है, उसे साधने के लिये दूसरों से प्रयोजन नहीं रखता। वैसे ही ज्ञानी अपने वीतरागस्वभाव को साधने के लिये पर की अपेक्षा नहीं रखते। दयादि की विकारी वृत्ति हो जाये तो उसके प्रति ऐसा विचार होता है कि हमारा मोक्षदशा का हर्ष (वीतराग भाव) तुमसे सहन नहीं होगा, इसलिये तुम सभी विकल्प अपने स्थान पर चले जाओ। इसप्रकार

समस्त भेदविकल्पों को तोड़ने की भावना करते हैं। यदि रागरहित होकर इसी क्षण चैतन्यस्वरूप में लीन हुआ जा सकता हो, तो मुझे दया अथवा भक्ति की वृत्तियाँ भी नहीं चाहिये।

विवाह के अवसर पर चाहे जो हो जाये तो भी वह विवाह रुकता नहीं है। अरे! घर में बाप का मुर्दा पड़ा है और मण्डप में पुत्र की भाँवर-परिक्रमा हो रही है-ऐसा भी होता है। इसमें सगे-सम्बन्धी से प्रयोजन कहाँ रहा? सबसे प्रयोजन छोड़कर जो अपने को अनुकूल पड़े-वह करना चाहता है। सगे-सम्बन्धियों का राग जहाँ तक अनुकूल रहा, तबतक रखा और जब रुचि दूसरी ओर पलटी, वहाँ उस राग को तोड़ दिया। वैसे ही ज्ञानियों को पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्पराग होता है, किन्तु प्रसंग आने पर पुरुषार्थ की उग्रता के द्वारा उसे तोड़कर स्वभाव में लीन हो जाते हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि अज्ञानी को राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान न होने से वह परलक्ष्य से राग को बदलता रहता है और ज्ञानियों को राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान होने से वे चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से राग का अभाव करते हैं। ज्ञानी जगत के प्रयोजन में अथवा राग में नहीं रुकते। मैं किसी परद्रव्य का और विकल्प का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो चेतक-स्वभाव द्वारा ज्ञाता ही हूँ-इसप्रकार ज्ञानी, स्वभाव की भावना में पर का अभिप्राय नहीं रखते। यह निष्ठुरता नहीं, किन्तु स्वभावदशा है, वीतरागता की साधकदशा है, और उसका फल वीतरागता एवं केवलज्ञान है।

जिन्होंने अपने आत्मा में सम्यक्श्रद्धारूपी मण्डप रच दिया है-ऐसे ज्ञानी भावना करते हैं कि अब हमारी मुक्तदशा का प्रसंग आया है; यह राग तो मुर्दे के समान है, उसके लिये अब हम नहीं रुकेंगे। हम तो अपने चैतन्यस्वभाव की जागृति करके मुक्तपरिणति को वरने के लिये अप्रतिहतरूप से बढ़ते हैं। ज्ञानियों को अपने स्वभाव की रुचि है, इसलिये वे स्वभाव के हेतु से अन्य सर्वप्रकार के राग को नष्ट करना चाहते हैं।

श्री दि० जैन पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव वींछिया (सौराष्ट्र)

वींछिया (सौराष्ट्र) ग्राम में नूतन दि० जैनमंदिर का निर्माण हुआ है-उसमें पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा पूर्वक मूलनायक जी चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा स्थापित की जायेगी और वहीं नूतन श्री जैन स्वाध्यायमंदिर में परमागम श्री समयसारजी की स्थापना होगी। यह महान कार्य पूज्य श्री कानजी स्वामी की पवित्र छाया में फाल्गुन सुदी ७ सोमवार ता. ७-३-४९ के दिन होनेवाला है। पूर्ण कार्यक्रम फाल्गुन सुदी १ सोमवार ता. २८-२-४९ से फाल्गुन सुदी ८ मंगलवार ता. ८-३-४९ तक का निश्चित हुआ है।

समयसार-प्रवचन [प्रथम भाग]

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार मूल और श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विस्तृत प्रवचन किये हैं, जिनमें समयसार के मर्म को खोलकर रख दिया गया है। समयसार के रहस्य को इतने विस्तार से प्रगट करनेवाला अभी तक कोई टीका-ग्रन्थ नहीं था। इस प्रवचन-ग्रन्थ को पढ़कर समाज परमागम के रहस्य को सरलतापूर्वक समझ सकेगी।

सजिल्द मूल्य-छह रुपया, डाकखर्च दस आना

मुक्ति का मार्ग

पण्डितप्रवर भागचन्दजी कृत 'सत्तास्वरूप' शास्त्र पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये तार्किक प्रवचन। इसमें अरहन्तदेव के स्वरूप और सर्वज्ञ-सिद्धि पर युक्तिपूर्ण सरल विवेचन है। साथ ही दु:ख का कारण और उसे दूर करने का उपाय बताया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह 'मुक्ति का मार्ग' दिखानेवाला उत्तम ग्रन्थ है। पृष्ठ १२०, मूल्य -दस आना, डाकखर्च माफ।

मूल में भूल

भैया भगवतीदासजी कृत 'उपादान-निमित्त संवाद' के ४७ दोहों पर तथा विद्वद्वर्य पण्डित बनारसीदासजी कृत 'उपादान-निमित्त' के ७ दोहों पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये स्पष्ट-सुन्दर प्रवचन। इस पुस्तक का प्रत्येक दोहा और उस पर किया गया तर्कपूर्ण विवेचन हमारी पूर्वबद्ध 'मूल में भूल' दिखाने के लिये दर्पण के समान है। उपादान-निमित्त के सम्बन्ध में समाज के बड़े-बड़े पण्डितों तक में जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निराकरण इस पुस्तक से हो जायेगा। पृष्ठ १४०, मूल्य बारह आने। डाकखर्च माफ।

मंगाने का पता — अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आँकड़िया (काठियावाड़)

आवश्यक सूचना

हमारे कार्यालय में आत्मधर्म प्रचार के लिये दस रुपये श्री भगवानदासजी जैन कुडई (सागर) की ओर से आये हैं, जिससे दस वाचनालयों को आत्मधर्म दो रुपये लेकर ही एक वर्ष तक दिया जायेगा। अत: जो वाचनालय ग्राहक बनना चाहते हों, वे दो रुपये मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज दें। जिनके रुपये पहले आ जायेंगे उन्हें आत्मधर्म भेज दिया जायेगा और आगे भी नियमित मिलता रहेगा। —प्रकाशक

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२२-०२-४९
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड